International Journal of Education and Science Research Review
E-ISSN 2348-6457
Volume-10, Issue-6 Nov-Dec-2023
P-ISSN 2349-1817
www.ijesrr.org Email- editor@ijesrr.org

किसान आंदोलन का ग्रामीण समुदायों पर प्रभाव

Dr. Kapil Verma

Assistant Professor, Department of Sociology .

Constituent Government college hasanpur (Amroha)

Mahatma Jyotiba Phule Rohilkhand University

Bareilly, Uttar Pradesh

सार

कृषक आंदोलनों को सामाजिक आंदोलनों के अलग प्रकार के रूप में देखा है और उत्पादन के संगठनों में परिवर्तनों और वर्ग संघर्ष के साथ इनके संबंध (संलग्नता) के संदर्भ में इनका विश्लेषण करने का प्रयास किया है। व्यवहारिक स्तर पर, एक कृषक आंदोलन को स्वामित्व के प्रतिमानों, भूमि के नियंत्रण व प्रयोग, कृषि उत्पादों की हिस्सेदारी, वेतन संरचना, ऋण और संस्थागत सहायता प्रणाली में तथा सामाजिक-आर्थिक जीवन के दूसरे पहलूओं, जिन्होंने कृषि समाज में उन्हें वषीभूत कर लिया है, में परिवर्तन लाने के लिए कृषक वर्ग (निर्वाह और छोटे उत्पादक, किरायेदार, बटाईदार और कृषि मजदूर) के संगठित और सामूहिक प्रयास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है

मुख्य शब्दः *किसान आंदोलन, ग्रामीण समुदायों*

परिचय

आधुनिक भारत में कृषक विद्रोह पर शायद ही कोई साहित्य या उदाहरण है। विद्वान भारतीय गाँवों में प्रचलित पारम्परिक सामाजिक संरचना को इसका श्रेय देते है यह जाति व्यवस्था के माध्यम से आयोजित की गयी थी और विभिन्न समूहों के मध्य सभी सामाजिक गतिविधियों व संबंधों के लिए ढाँचा प्रदान करती थी जिसने निम्न जातियों को सामाजिक व्यवस्था में उनका स्थान स्वीकारने को प्रेरित किया है। इसने केन्द्र सरकार को भी बड़े पैमाने पर क्षुद्र (सतही) बना दिया है और इस प्रकार किसान विरोध की बड़े पैमाने पर किसान विद्रोह का स्वरूप बनने की संभावना कम थी। हालाँकि, यह काफी हद तक स्वीकार किया जाता है कि एक विशेष समय पर, एक विशेष वर्ग की क्रान्तिकारी क्षमता बड़े पैमाने पर किसी दिए गए समाज में शक्ति एकत्रीकरण और वर्ग गठबन्धन (संबंध) पर टिकी होती है और भारत में कृषक वर्ग कोई अपवाद नहीं है (शाह 2004) । कृषि में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन ने पारम्परिक कृषि संबंधों में बाधा उत्पन्न की थी जिसके कारण किसान अशांति भी हुई। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत, भूमि एक विपणन (बिक्री) योग्य वस्तु बन गई और उन्नीसवीं सदी के अंत में व्यवसायिक कृषि का विकास हुआ।

किसान संघर्ष:

- इन संघर्षों में किसान अपनी मांगों के लिये प्रत्यक्ष तौर पर लड़ते हुए मुख्य शक्ति के रूप में उभरे।

- वर्ष1858 और वर्ष 1914 के बीच की अवधि में आंदोलनों की प्रवृत्ति वर्ष 1914 के बाद के आंदोलनों के विपरीत, स्थानीयकृत, असंबद्ध और विशेष शिकायतों तक सीमित थी।

आंदोलनों का कारण:

- **किसान अत्याचार:** ज़मींदारी क्षेत्रों में किसानों को **उच्च लगान, अवैध करारोपण, मनमानी बेदखली और अवैतनिक श्रम** का सामना करना पड़ा। इसके अलावा सरकार ने भारी भू-राजस्व भी लगाया।
- **भारतीय उद्योगों को बड़े पैमाने पर नुकसान:** आंदोलनों का उदय तब हुआ जब ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के परिणामस्वरूप पारंपरिक हस्तशिल्प और अन्य छोटे उद्योगों का दमन हुआ, जिससे स्वामित्व में परिवर्तन हुआ तथा किसानों पर कृषि भूमि का अत्यधिक बोझ एवं कर्ज बढ़ा एवं किसानों की गरीबी में वृद्धि हुई।
- **प्रतिकूल नीतियाँ:** ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियाँ ज़मींदारों और साहूकारों के पक्ष में थीं तथा किसानों का शोषण करती थीं। इस अन्याय के खिलाफ किसानों ने कई अवसरों पर विद्रोह भी किया।

किसान संगठनों का उदय:

- वर्ष 1920 से वर्ष 1940 के बीच कई किसान संगठनों का उदय हुआ।
- **बिहार प्रांतीय किसान सभा** (वर्ष 1929) और वर्ष 1936 में स्थापित **अखिल भारतीय किसान सभा** (AIKS) प्रथम किसान संगठन थे।
- वर्ष 1936 के लखनऊ अधिवेशन में **सहजानंद** की अध्यक्षता में **अखिल भारतीय किसान सभा** का गठन किया गया था।
- बाद में इसने एक किसान घोषणापत्र जारी किया जिसमें सभी काश्तकारों के लिये ज़मींदारी और अधिभोग अधिकारों को समाप्त करने की मांग की गई थी।

9वीं शताब्दी के किसान आंदोलन (गांधी-पूर्व चरण):

नील विद्रोह (1859-62):

- अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिये यूरोपीय बागान मालिकों ने किसानों को खाद्य फसलों के बजाय नील की खेती करने के लिये बाध्य किया।
- नील की खेती से किसान असंतुष्ट थे क्योंकि:
- नील की खेती के लिये कम कीमतों की पेशकश की गई।
- नील लाभदायक नहीं था।
- नील की खेती से भूमि की उर्वरा शक्ति कम हो जाती है।
- व्यापारियों और बिचौलियों के कारण किसानों को नुकसान उठाना पड़ा। परिणामस्वरूप उन्होंने बंगाल में नील की खेती न करने के लिये आंदोलन शुरू कर दिया।

भारतीय कृषक-वर्ग का दरिद्रीकरण औपनिवेशिक काल के दौरान कृषि संरचना रूपांतरण का परिणाम था। जिसके निम्न कारण थे:

अ) औपनिवेशिक आर्थिक नीतियाँ

ब) हस्तशिल्प की बर्बादी के परिणामस्वरूप भूमि की अति संकुलता

स) नयी भूमि राजस्व व्यवस्था

द) औपनिवेशिक प्रशासन और न्याय व्यवस्था

जमींदार क्षेत्रों में कृषक उच्च किरायों, अवैध उगाही, स्वेच्छित (मनमाने) निष्कासन और अवैतनिक श्रम से पीड़ित थे । रैयतवाड़ी क्षेत्रों में, सरकार खुद ही बहुत अधिक भूमि राजस्व वसूलती थी । अत्यधिक बोझ से दबे हुए किसान, आजीविका के अपने एकमात्र स्रोत के खोने तिरोध, संग्रहण और परिवर्तन के डर से, अक्सर स्थानीय साहूकार से संपर्क करते थे जो उधार लिए पैसों पर ब्याज की उच्च दरों को लगाकर किसान की परेशानियों का शोषण करते थे । अक्सर, किसानों को अपनी जमीन और मवेशियों को गिरवी रखना पड़ता था । कभी-कभी साहूकार गिरवी रखी हुई चीजों को जब्त कर लेता था। धीरे-धीरे बड़े क्षेत्रों पर, वास्तविक किसान कच्चे काश्तकारों, बटाईदारों और भूमिहीन मजदूरों की स्थिति तक आ गए थे। कृषक अक्सर शोषण का विरोध करते थे और जल्दी ही उन्हें अहसास हुआ कि उनका सच्चा शत्रु औपनिवेशिक राज्य था । 19वीं सदी के अन्तिम दशक के दौरान आर्थिक अवसाद (मंदी) के साथ अकाल की आवधिक (नियत काल में) पुनरावृत्ति से आगे चलकर ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति और बिगड़ गयी और परिणामस्वरूप कई किसान विद्रोह हुए

उग्र और सुधारवादी आंदोलन

कृषक आंदोलनों को व्यापक रूप से उग्र या सुधारवादी के रूप में वगीकृत कर सकते है जो विचारधारा के साथ उनके विशेष संयोजन (संबंध), समूह जुटाने (लामबंदी) के स्वरूप और परिवर्तन के प्रति अभिविन्यास (नीति) पर निर्भर करता है। उग्र आंदोलन वो है जो गैर- संस्थागत जन लामबंदी का उपयोग करते हैं, सामाजिक संरचना में उग्र परिवर्तन की एक विचारधारा द्वारा निर्देशित होते है। हालांकि ये आन्दोलन आमतौर पर अल्प-कालिक होते है और वे एक बड़े भौगोलिक क्षेत्र में फैल सकते हैं। इसके विपरित, एक सुधारवादी कृषक आंदोलन संस्थात्मक जन लामबंदी का उपयोग करते है, क्रमिक सामाजिक परिवर्तन की एक विचारधारा द्वारा निर्देशित होते है और एक लम्बे जीवनकाल का प्रदर्शन करते है । हालांकि, कृषक आंदोलन विवेकपूर्ण रूप से उग्र या सुधारवादी नहीं है; बल्कि एक समय अवधि के दौरान एक दूसरे का विस्तार हो सकता है

उद्देश्य

1. किसान आंदोलन का ग्रामीण समुदायों पर प्रभाव
2. भारतीय कृषक-वर्ग का दरिद्रीकरण औपनिवेशिक काल के दौरान कृषि संरचना रूपांतरण का था।

भारत में कृषक आंदोलन के चरण

हालाँकि, विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रयोग की गयी विभिन्न वर्गीकरण प्रणाली हो सकती है, परन्तु विश्लेषण के लिए भारत में कृषक आंदोलनों को काल के आधार पर व्यापक रूप से तीन भिन्न-भिन्न समय काल में वर्गीकृत किया जा सकता है।इस

काल के दौरान देश के विभिन्न भागों में स्वैच्छिक कृषक विद्रोह की एक श्रंखला के लिए मुख्य कारण जमींदारों या भू-स्वामियों की अत्यधिक मनमानी के साथ-साथ भूमि राजस्व की उच्च दर थी। आर्थिक मंदी और अकाल की आवधिक (नियत काल में) पुनरावृत्ति ने इस काल के दौरान ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति को बिगाड़ दिया जिसके कारण कई कृषक आंदोलन हुए । इस चरण के मुख्य कृषक आंदोलन हैं:

1917-18 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा शुरू किये गए कृषक आंदोलन भूमि राजस्व की अत्यधिक दर के खिलाफ राहत पाने के लिए प्रतिबंधित थे और जमींदारों के खिलाफ किसी भी मामले में निर्देशित नहीं थे । जमींदारों और भू-स्वामियों के हितों की रक्षा करने की कांग्रेस की नीति ने ग्रामीण भारत में किसानों के स्वतंत्र वर्ग संगठनों की उत्पत्ति की । इसके परिणामस्वरूप देश के विभिन्न भागों में किसान संगठन अस्तित्व में आये ।

बिहार में स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में किसान सभा आंदोलन की शुरुआत हुई थी उन्होंने 1929 में बिहार प्रोवियनसल किसान सभा का निर्माण किया ताकि जमींदारी के खिलाफ किसान शिकायत को उठाया जा सके और उनके अधिभोग (कब्जा) अधिकारों पर हमला किया जा सके। धीरे-धीरे कृषक आंदोलन तेज हुआ और पूरे भारत में फैल गया। 1927 में आंध्र प्रदेश में इसने जमींदारी जुल्म के खिलाफ समझौता विरोधी आंदोलन चलाया। 1927 में दक्षिण भारत में दमनकारी वन कानून के खिलाफ भी एक शक्तिशाली संघर्ष की शुरुआत की गई। जमींदारों के उत्पीड़न के खिलाफ इसी तरह के आंदोलन उत्तर प्रदेश और भारत के दूसरे भागों में भी हुए

किसान मोर्चे पर इन सभी क्रान्तिकारी घटनाओं का समापन अप्रैल 1936 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में अखिल भारत किसान सभा (ऑल इण्डिया किसान सभा के निर्माण से हुआ तथा स्वामी सहजानंद सरस्वती पहले अध्यक्ष के रूप में चुने गए । अखिल भारत किसान सभा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर और बाहर कट्टरपंथी (उग्र) ताकतों से बनी थी और कांग्रेस समाजवादी दल और बाद में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा भी सहयोग दिया गया था

साम्यवादी (कम्युनिस्ट) प्रमुख प्रभावी थे जिन्होंने किसानों को जुटाया था। अखिल भारत किसान सभा के निर्माण के बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने किसान- वर्ग के साथ गंभीर जुड़ाव शुरू कर दिया था । ने किसान मोर्चे पर अपनी सदस्यता बढ़ा ली थी और ग्रामीण इलाकों में सबसे क्रान्तिकारी संघर्षों के लिए मंच तैयार कर दिया था। ने जमीनी स्तर पर और ग्रामीण क्षेत्रों में किसान सभा के माध्यम से कार्य करना स्वीकार किया जो प्रारम्भ में वर्ग आधारित संगठन नहीं थी और अमीर किसानों का भी अच्छी तरह से इसमें प्रतिनिधित्व था । 1941-43 में अखिल

भारत किसान सभा के नेतृत्व में चली गयी जिसने स्वामी सहजानंद के नेतृत्व में किसान सभा को ग्रामीण गरीबों के संगठन के रूप में बनाने का प्रयास किया और इस प्रकार अमीर और मध्यम किसानों को अलग करने की कोशिश की। 1944-45 तक CPI का किसान सभा के ऊपर सम्पूर्ण नियंत्रण हो गया (धनागरे, 1980) । इस प्रकार, किसान सभा गरीब कृषकों, किरायेदारों (जोतदारों), बटाईदारों और भूमिहीन कृषि श्रमिकों का एक संगठन बन गयी । यह इस आधार के साथ है कि स्वतंत्रता- पूर्व काल में ग्रामीण संघर्षों का यह प्रारम्भ और नेतृत्व कर सकता है । बंगाल में तेभागा आंदोलन (1946-47) और पुराने हैदराबाद राज्य में तेलंगाना आंदोलन (1946 - 51) का नेतृत्व कम्युनिस्टों (साम्यवादियों) ने किया था

स्वतंत्र भारत में यह वामपंथी दल ही है, जो कृषकों के मुख्य संगठक (आयोजक) रहे है । कृषि पारिश्रमिक (वेतन) में वृद्धि, जोतने के लिए भूमि आदि जैसे विभिन्न मुद्दों पर लामबन्दी हुई और मुख्य लक्ष्य ग्रामीण अमीर रहे है जिनकी दया पर भूमिहीन श्रमिक और सीमांत किसान निर्भर रहते है। प्रारम्भ में को उम्मीद थी कि ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि अधिकार प्रतिमान को परिवर्तित करने के लिए कांग्रेस सरकार क्रांतिकारी कार्यक्रमों को लायेगी । जब से स्थापित कम्यूनिस्टों ने

संघर्ष के संसदीय स्वरूप को अपनाया है, तब से 1967 में नक्सलवादी विद्रोह तक ग्रामीण क्षेत्रों में स्वतंत्र भारत ने कोई मुख्य सशस्त्र विद्रोह नहीं देखा है।

भारत में पूँजीवादी खेती को बढ़ावा देने के लिए भूमि सुधार और सामुदायिक कार्यक्रमों ने केवल कृषि परेशानियों को तीव्र किया है। सरकार ना केवल घाटे वाले किसानों के बड़े हिस्से और कृषि सर्वहारा को राहत देने में असफल रही, बल्कि इसकी कृषि नीति ने उनके दुखों को बढ़ा दिया । इसका परिणाम आजादी के बाद भी कृषि समाज में असंतोष था और इसने देश के विभिन्न हिस्सों में कृषक आंदोलन की एक श्रंखला को शुरू किया

मुख्यधारा के दोनों कम्युनिस्ट दलों, CPI और CPI(M) ने संबंधित वर्गों को जुटाने के लिए किसान सभाओं और कृषि मजदूरों के संगठनों जैसे कृषक संगठनों का निर्माण किया । उन्होंने केरल, पश्चिमी बंगाल व त्रिपुरा और दूसरे कुछ राज्यों में सीमित सफलता प्राप्त की । इसी तरह से CPI(M-L) ने अपना कृषक मोर्चा, बिहार प्रदेश किसान सभा (BPKS) का गठन किया, जो अब बिहार और झारखण्ड के बहुत से जिलों में सक्रिय है । यह ग्रामीण गरीबों और मध्यम कृषकों को भी उन मुद्दों को उठाकर संगठित कर रही है जो उनको प्रभावित करते है। गैर-संसदीय वामपंथी, जैसे मार्क्सवादी समन्वय समिति या पीपल वार ग्रुप आंध्र प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में गरीब ग्रामीणों को एकजुट कर रहे है और ग्रामीण गरीबों के सवालों का समाधान करने के लिए एक रणनीति के रूप में हिंसा का उपयोग कर रहे हैं

गैर- कम्युनिस्ट (साम्यवादी) प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (PSP) स्वतंत्रता पश्चात् काल में 1960 के दशक तक उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश में कृषकों से संबंधित कुछ आंदोलनों में सम्मिलित थी। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया, एक गैर-मार्क्सवादी दल, ने कृषि सर्वहारा के कारणों को जोड़ दिया और अपने संघर्ष को सम्पूर्ण भारत के स्तर पर ले गए। दक्षिण भारत में आंदोलनों को किरायेदार (जोतदार) आंदोलन के रूप में जाना जाता है, जैसे 1950-51 के दौरान कोगाडू सत्याग्राह कर्नाटक में और 1950-70 के दौरान उत्तरा- कन्नड आदि जबरदस्ती निष्कासन, ऋण और किरायों जैसे मुद्दों पर हुए है। 1960 के दशक में चरण सिंह उत्तरी भारत के गंगा क्षेत्र में किसानों के मसीहा के रूप में उभरे जैसा कि उन्होंने विकास की नेहरूवादी और गांधीवादी रणनीति के सम्मिश्रण का पक्ष लिया

पंजाब में केथबारी जमींदारी यूनियन 1972 में अस्तित्व में आयी जिसने 1980 तक छः बड़े संघर्षों का नेतृत्व किया। 1966 में नारायण स्वामी नायडू के नेतृत्व में तमिलनाडु व्यवसिगल संगम (TNVS) का शुभारम्भ हुआ जिसने 1970 और 1980 के दशकों के मध्य चार महत्वपूर्ण आंदोलन कार्यान्वित किया। शरद जोशी के नेतृत्व में महाराष्ट्रा सेकारी संघ का गठन हुआ और कर्नाटक राज्य रयोता संघ (KRRS) के निर्माण जो प्रो. एम. डी. नजूडास्वामी के नेतृत्व में हुआ ने भारतीय संघ के क्षेत्रों में बड़े किसान आंदोलनों का वातावरण पैदा कर दिया

भारत में उग्र कृषक आंदोलन

1855 का संथाल विद्रोह

संथाल विद्रोह को संथाल आवेष के नाम से भी जाना जाता है, बहुत से विद्वानों द्वारा जनजातीय आंदोलन के रूप में वगीकृत है, यह आज के झारखण्ड और पश्चिमी बंगाल (राजमहल पहाड़ियों की तलहटी में हुआ था । यह ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के विरूद्ध एक आंदोलन था और उन जमींदारों के विरूद्ध भी, जिन्हें अंग्रेजों ने भूमि का स्वामीत्व दे दिया था जिसे परम्परागत रूप से कृषक जोतते थे और उन पर अत्यधिक किरायादिया था । यह विद्रोह उन साहूकारों के खिलाफ भी था जो उधार लिए गए पैसों पर अधिक ब्याज लगाते थे और उन सरकारी अधिकारियों के खिलाफ भी था जो

निरंकुश थे संथालों की परेशानियों के प्रति उदासीन थे। संथाल ऋण और कर न चुका पाने के कारण अपनी भूमि और बस्तियों में बेदखल हो रहे थे। इस प्रकार, वे अपनी ही भूमि पर किरायेदार (जोतदार) या बंधुआ मजदूर भी बन गए थे

विद्रोह जुलाई, 1855 में फूट पड़ा जब भोगाडीह गाँव में हजारों की संख्या में संथाल इकट्ठा हुए और अपने आप को स्वतंत्र घोषित कर दिया। आंदोलन का आयोजन और नेतृत्व दो भाईयों सिद्धू और कान्हू द्वारा किया गया जो दावा करते थे कि अधिकारियों के 'झूलुम' और व्यापारियों के कपट को खत्म करने के लिए उन्हें अलौकिक शक्ति से संदेश प्राप्त हुआ है । उन्होंने जमींदारों और साहूकारों को बाहर निकालने के लिए उन पर हमला कर दिया था । इसने अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना और संथालों के मध्य संघर्ष की एक श्रंखला शुरू कर दी थी। संथाल अपने पारम्परिक हथियारों धनुष, तीर, कुल्हाड़ी और तलवारों से । बहादुरी के साथ लड़े परन्तु वे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की टुकड़ियों द्वारा प्रयोग किये गए परिष्कृत (उच्च) आग्नेयास्त्रों (हथियारों) के खिलाफ एक मौके पर भी नहीं खड़े रह सके और विद्रोह को 1856 की शुरुआत में ही निर्दयता से दबा दिया गया

1875 का मराठा विद्रोह

रैयतबाड़ी क्षेत्र में विशिष्ट दशाओं ने 1875 में पूना और अहमदनगर जिलों में कृषक विद्रोहों को पैदा किया। बड़े राजस्व के नियमित प्रवाह की चाह में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रैयतों पर जमीन के लिए अत्यधिक कर लगाये जिनका नगदी में ही भुगतान किया जाना था और वो भी अकाल व अन्य दूसरे कारणों की वजह से फसल उत्पादन में अस्थिरता का ध्यान रखे बिना। किसानों ने साहूकारों, जो मुख्यतः बाहरी थे, का रूख कर लिया ताकि राजस्व का भुगतान कर सके । किसान जमानत के रूप में भूमि की पेशकश करते थे और अगर किसान ऋण का भुगतान करने में असफल होता था तो सरकार साहूकार को जमीन देने के पक्ष में थी । इस प्रकार, कृषकों ने अपने आपको साहूकारों के साथ एक शातिर जाल में दूकारों के साथ एक शातिर जाल में फंसा पाया जहाँ शोषक और लाभार्थी साहूकार ही था ।

1874 में, साहूकारों और कृषकों के बीच बढ़ते तनाव का परिणाम रैयतों (किसानों) द्वारा साहूकारों के विरूद्ध एक सामाजिक बहिष्कार के रूप में आया। रैयतों ने दुकानों से खरीदने से इनकार कर दिया। कोई भी किसान उनके खेतों में खेती नहीं करेगा । नाई, धोबी और मोची उनकी सेवा नहीं करेंगे । यह सामाजिक बहिष्कार पूना, अहमदनगर, शोलापुर और सतारा के गाँवों तक तेजी से फैल गया था। जल्दी ही सामाजिक बहिष्कार साहूकारो के घरों और दुकानों पर व्यवस्थित हमलों के साथ कृषक दंगों में परिवर्तित हो गया था। ऋण अनुबंध और दस्तावेज को जब्त कर लिया गया और सार्वजनिक रूप से जला दिया गया ।

सरकार ने साहूकारों की गतिविधियों को न्यायोचित ठहराया और जल्द ही आंदोलनकारी कृषकों के खिलाफ हो गयी तथा अपने दमनकारी गतिविधि का सहारा भी लिया । कृषक सरकार द्वारा भयानक दमन के खिलाफ लम्बे समय तक सामना नहीं कर सके और उन्हें अपने सक्रिय संघर्ष को छोड़ना पड़ा। पूना और अहमद नगर में विद्रोह का सक्रिय चरण केवल तीन सप्ताह तक चला। एक समझौताकारी उपाय के रूप में, 1879 में दक्कन कृषक राहत अधिनियम (दक्कन एग्रीकलचिरस्ट रीलिफ एक्ट) पारित हुआ

चम्पराण सत्याग्रह (1917 - 18)

रासायनिक उद्योग द्वारा कृत्रिम नीले रंजक (रंग) के उत्पादन से बहुत पहले ही, भारतीय कृषक एक पौधा उगा रहे थे, जिसे नील (इण्डिगो) कहा जाता था, जो सूती कपड़ों को नीला करने के लिए रंजक (डाई) पैदा करता था। 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी की शुरुआत में ग्रेट ब्रिटेन में कपड़ा उद्योग में नील रंजक (इण्डिगो डाई) की माँग अत्यधिक थी ।

इसने नील के व्यापार को एक अत्यधिक लाभ वाला व्यवसाय बना दिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बहुत से सेवानिवृत्त अधिकारियों और उभरते युवा अमीरों ने स्थानीय जमींदारों से बिहार और पश्चिमी बंगाल में भूमि अधिग्रहण कर लिया और इस फसल के उत्पादन को बड़े पैमाने पर विस्तारित कर दिया । दमन की व्यवस्था के अन्तर्गत किरायेदार (जोतदार) किसानों को नील की फसल पैदा करने के लिए मजबूर किया गया ।

किरायेदार (जोरदार) किसानों को ब्रिटिश बागान मालिकों द्वारा नील के उत्पादन के लिए मजबूर किया गया कि वो अपनी भूमि के एक बीघा के 20 भागों में से 3 भागों पर नील का उत्पादन करें, यह 'तीन कठिया' प्रणाली के नाम से जाना जाता है । बागान मालिकों ने भूमि के सबसे उपजाऊ भागों पर नील की खेती के लिए विवश किया और नील के उत्पादन के लिए बहुत कम कीमत प्रदान की। ब्रिटिश प्रशासन किसानों के तिरस्कार, शारीरिक दुर्व्यवहार और शोषण के प्रति उदासीन था । जब 1897 में दुनिया के बाजार में कृत्रिम नील के आने से नील का बाजार बुरी तरह से प्रभावित हुआ तो बागान मालिकों ने नए तरह का शोषण प्रारम्भ कर दिया। या तो नुकसान को गरीब कृषकों में हस्तांतरित कर दिया जाता था या वे नील के उत्पादन को भूमि के लिए उच्च किराये के रूप में दे सकते थे। नील के शोषण की इस दयनीय स्थिति ने रैयतों (किसानों) को समय समय पर अपने शोषकों के विरूद्ध हिंसात्मक या अन्य तरह से विरोध करने को मजबूर किया परन्तु उन्हें निर्दयता से कुचल दिया जाता था । ब्रिटिश प्रशासन द्वारा जाँच शुरू की जाती थी, लेकिन बिहार में की जाती थी. ल इनमें से ज्यादातर ढकोसला ही साबित हुई ।

मोपला किरायेदारों (जोतदारों) की प्रमुख शिकायतें थी (i) प्रतिकूल (असुविधाजनक) भूमि अवधि प्रणाली जिसके कारण मोपलाओं को बिना किसी पूर्व सूचना के उनकी भूमि से निकाला जा सकता था, की वजह से असुरक्षा (ii) जेनमिस द्वारा निर्धारित शुल्क का उच्च नवीनकरण (iii) मोपला के लिए उच्च निर्धारित किराया और हिन्दू किरायेदारों (जातदारों) की तुलना में उनका शोषण |

यह आंदोलन बटाईदारों (स्थानीय रूप से बरगरदार के नाम से जाने जाते हैं) की बिगड़ती आर्थिक स्थितियों और खुशहाल प्रस्थिति वाले मध्यस्थ भूस्वामियों (जोतेदार के रूप में जाने जाते हैं) की पृष्ठभूमि के खिलाफ उत्पन्न हुआ। बंगाल में लाया गया स्थायी बंदोबस्त 1793 कृषकों और जमींदारों के बीच में बहुत से मध्यस्थों को ले आया था । ये जोतेदार अपनी जमीन को बटाईदारों, जो बरगरदार के नाम से जाने जाते हैं, को किराये पर दे देते थे, जो जमीन को जोतते थे और उत्पादन का आधा हिस्सा जोतेदारों को दे देते थे। बरगरदार भूमि के टुकड़े पर एक निश्चित समय सामान्यतः पाँच वर्षों के लिए केवल अस्थायी अधिकार रखते थे। इसके साथ-साथ ग्रामीण अर्थव्यवस्था का साहूकारों द्वारा भी शोषण था

निष्कर्ष

इस इकाई में हमने भारतीय समाज में कृषक आंदोलनों के कुछ महत्वपूर्ण लक्षणों की चर्चा की है। हमने कृषक और कृषक आंदोलन पर सैद्धांतिक चर्चा के साथ शुरुआत की थी । क्रान्तिकारी आंदोलनों में कृषकों की भूमिका पर भी संक्षेप में विचार किया गया है। उग्र सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति की सामाजिक पृष्ठभूमि व कारणों तथा अभिव्यक्ति की चर्चा भी की गयी है। कुछ महत्वपूर्ण उग्र सामाजिक आंदोलन पर भी विचार किया गया है।

संदर्भ

1. आनंद चक्रवर्ती - संपादित, एण्डरे बेटली, इब्यूलिटी एण्ड इन्कयूलिटी, पृष्ठ
2. दीपांकर गुप्ता - सम्पादित, घनश्याम शाह, सोशल मूवमेन्ट एण्ड द स्टेट, पृष्ठ

3. एम० ए० रसूल - हिस्ट्री ऑफ ऑल इंडिया किसान सभा
4. महेन्द्र प्रताप उत्तर प्रदेश में किसान आंदोलन
5. दिपांकर गुप्ता - शोसल मूवमेंट एण्ड द स्टेट, सम्पादित घनश्याम शाह
6. दिपांकर गुप्ता - शोसल मूवमेंट एण्ड द स्टेट, सम्पादित घनश्याम शाह
7. के0 रंगाराव शोसल मूवमेंटस इन इंडिया, सम्पादित एम० एस० ए० राव 158 191